महावीरका आचार-धर्म

महावीर और तत्कालीन स्थिति

लोकमें महापुरुषोंका जन्म जन-जीवनको ऊँचा उठाने और उनका हित करनेके लिए होता है। भगवान् महावीर ऐसे ही महापुरुष थे। उनमें लोक-कल्याणकी तीव्र भावना, असाधारण प्रतिभा, अद्वितीय तेज और अनुपम आत्मबल था। बचपनसे ही उनमें अलौकिक धार्मिक भाव और सर्वोदयकी सातिशय लगन होनेसे नेतृत्व, लोकप्रियता और अद्भुत संगठनके गुण विकसित होने लगे थे। भौतिकताके प्रति उनकी न आसक्ति थी और न आस्था। उनका विश्वास आत्माके केवल अमरत्वमें ही नहीं, किन्तु उसके पूर्ण विकसित रूप परमात्मत्वमें भी था। अतएव वे इन्द्रिय-विषयोंको तापकृत् और तृष्णाभिवर्द्धक मानते थे। एक लोक-पूज्य एव सर्वमान्य ज्ञातृवंशी क्षत्रिय घरानेमें उत्पन्न होकर और वहाँ सभी सामग्रियोंके सुलभ होनेपर भी वे राजमहलोंमें तीस वर्ष तक '**जलमें भिन्न कमल**' की भाँति अथवा गीताके शब्दों में '**स्थितप्रज्ञ**' की तरह रहे, पर उन्हें कोई इन्द्रिय-विषय लुभा न सका। उनकी आँखोंसे बाह्य स्थिति भी ओझल न थी। राजनैतिक स्थिति यद्यपि उस समय बहुत ही सुदृढ़ और आदर्श थी। नौ लिच्छिवियोंका संयुक्त एवं संगठित शासन था और वे बड़े प्रेम एवं सहयोगसे अपने गणराज्यका संचालन करते थे। राजा चेटक इस गणराज्यके सुयोग्य अध्यक्ष थे और वैशाली उनकी राजधानी थी। वैशाली राजनैतिक हलचलों तथा लिच्छवियोंकी प्रवृत्तियोंकी केन्द्र थी। पर सबसे बड़ी जो न्यूनता थी वह यह थी कि शासन समाज और धर्मके मामलेमें मौन था—उसमें कोई हस्तक्षेप नहीं कर सकता था। फलतः सामाजिक और धार्मिक पतन पराकाष्ठाको पहुँच चुका था तथा दोनोंकी दशा अत्यन्त विरूप रूप धारण कर चुकी थी। छुआछूत, जातीयता और ऊँच-नीचके भेदने समाज तथा धर्मकी जड़ोंको खोखला एवं जर्जरित बना दिया था। अज्ञान, मिथ्यात्व, पाखण्ड और अधर्मने अपना डेरा डाल रखा था। इस बाह्य स्थितिने भी भगवान् महावीरकी आँखोंको अद्भुत प्रकाश दिया और वे तीस वर्षकी भरी जवानीमें ही समस्त वैषयिक सुखोपभोगोंको त्यागकर और उनसे विरक्ति धारण कर साधु बन गये थे। उन्होंने अनुभव किया था कि गृहस्थ या राजाके पदकी अपेक्षा साधुका पद अत्यन्त उन्नत है और इस पदमें ही तप, त्याग तथा संयमकी उच्चाराधना की जा सकती है और आत्माको '**परमात्मा**' बनाया जा सकता है। फलस्वरूप उन्होंने बारह वर्ष तक कठोर तप और संयमकी आराधना करके अपने चरम लक्ष्य वीतराग-सर्वज्ञत्व अथवा परमात्मत्वकी शुद्ध एवं परमोच्च अवस्थाको प्राप्त किया था।

महावीर द्वारा आचारधर्मकी प्रतिष्ठा

उन्होंने जिस '**सुपथ**' पर चलकर इतनी ऊँची उन्नति की और असीम ज्ञान एवं अक्षय आनन्दको प्राप्त किया, उस '**सुपथ**' को जनकल्याणके लिए भी उन्होंने उसी तरह प्रदर्शित किया, जिस तरह सद्वैद्य बड़े परिश्रम और कठोर साधनासे प्राप्त अपने अनुपम चिकित्सा-ज्ञान द्वारा करुणा-बुद्धिसे रोग-पीड़ित लोगोंका रोगोपशमन करता है और उन्हें जीवन-दान देता है। महावीरके '**आचार-धर्म**' पर चलकर प्रत्येक व्यक्ति लौकिक और पारलौकिक दोनों ही प्रकारके हितोंको कर सकता है। आजके इस चाकचिक्य एवं

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

भौतिकता-प्रिय जगत्में उनके '**आचार-धर्म**' के आचरणकी बड़ी आवश्यकता है। महाभारतके एक उपाख्यान-में निम्न श्लोक आया है :

जानामि धर्मं न च मे प्रवृत्तिः, जानाम्यधर्मं न च मे निवृत्तिः।
केनापि देवेन हृदि स्थितेन, यथा नियुक्तोऽस्मि तथा करोमि ॥

मैं धर्मको जानता हूँ, पर उसमें मेरी प्रवृत्ति नहीं होती और अधर्मको भी जानता हूँ, लेकिन उससे निवृत्ति नहीं। हृदयमें स्थित कोई देव जैसी मुझे प्रेरणा करता है, वैसा करता हूँ।'

यथार्थतः यही स्थिति आज अमनीषी और मनीषी दोनोंकी हो रही है। बाह्यमें वे भले ही धर्मात्मा हों, पर अन्तस् प्रायः सभीका तमोव्याप्त है। परिणाम यह हो रहा है कि प्रत्येक व्यक्तिकी नैतिक और आध्यात्मिक चेतना शून्य होती जा रही है और भौतिक चेतना एवं वैषयिक इच्छाएँ बढ़ती जा रही हैं। यदि यही भयावह दशा रही तो मानव-समाजमें न नैतिकता रहेगी और न आध्यात्मिकता तथा न वैसे व्यक्तियोंका सद्भाव कहीं मिलेगा। अतः इस भौतिकताके युगमें भगवान् महावीरका '**अचारधर्म**' विश्वके मानव समाजको बहुत कुछ आलोक दे सकता है—आध्यात्मिक एवं नैतिक मार्गदर्शन कर सकता है। उसके आचरणसे मानव नियत मर्यादामें रहता हुआ ऐन्द्रियिक विषयोंको भोग सकता है और जीवनको नैतिक तथा आध्यात्मिक बनाकर उसे सुखी, यशस्वी और सब सुविधाओंसे सम्पन्न भी बना सकता है। दूसरोंको भी वह शान्ति और सुख प्रदान कर सकता है।

अहिंसक व्यवहारकी आवश्यकता

मानव-समाज सुख और शान्तिसे रहे, इसके लिए महावीरने अहिंसा धर्मका उपदेश दिया। उन्होंने बताया कि दूसरोंको सुखी देखकर सुखी होना और दुखी देखकर दुखी होना ही पारस्परिक प्रेमका एयमात्र साधन है। प्रत्येक मनुष्यका कर्त्तव्य है कि वह किसी भी मनुष्य, पशु या पक्षी, यहाँतक कि छोटे-से-छोटे जन्तु, कीट, पतंग आदिको भी न सताये। प्रत्येक जीव सुख चाहता है और दुखसे बचना चाहता है। इसका शक्य उपाय यही है कि वह स्वयं अपमे प्रयत्नसे दूसरोंको दुखी न करे और सम्भव हो तो उन्हें सुखी बनानेकी ही चेष्टा करे। ऐसा करनेपर वह सहजमें सुखी हो सकता है। अतः पारस्परिक अहिंसक व्यवहार ही सुखका सबसे बड़ा और प्रधान साधन है। इस अहिंसक व्यवहारको स्थायी बनाये रखनेके लिए उसके चार उपसाधन हैं।

१. पहला यह कि किसीको धोखा न दिया जाय, जिससे जो कहा हो, उसे पूरा किया जाय। ऐसे शब्दोंका भी प्रयोग न किया जाय, जिससे दूसरोंको मार्मिक पीड़ा पहुँचे। जैसे अन्धेको अन्धा कहना या काणेको काणा कहना सत्य है, पर उन्हें पीड़ा-जनक है।

२. दूसरा उपसाधन यह है कि प्रत्येक मनुष्य अपने परिश्रम और न्यायसे उपार्जित द्रव्यपर ही अपना अधिकार माने। जिस वस्तुका वह स्वामी नहीं है और न उसे अपने परिश्रम तथा न्यायसे अर्जित किया है उसका वह स्वामी न बने। यदि कोई व्यवसायी व्यक्ति उत्पादक और परिश्रमशील प्रजाका न्याय-युक्त भाग हड़पता है तो वह व्यवसायी नहीं। व्यवसायी वह है जो न्यायसे द्रव्यका अर्जन करता है। छल-फरेब, धोखाधड़ी या जोरजबर्दस्तीसे नहीं। अन्यथा वह प्रजाकी अशान्ति तथा कलहका कारण बन जायगा। अतः न्यायविरुद्ध द्रव्यका अर्जन दुख तथा संक्लेशका बीज है, उसे नहीं करना चाहिए।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

३. तीसरा यह है कि प्रत्येक व्यक्ति (स्त्री-पुरुष) को भोगोंमें आसक्त नहीं होना चाहिए। भोगोंमें आसक्त व्यक्ति अपना तथा दूसरोंका अहित करता है। वह न केवल अपना स्वास्थ्य ही नष्ट करता है, अपितु ज्ञान, विवेक, त्याग, पवित्रता, उच्चकुलीनता आदि कितने ही सद्‌गुणोंका भी नाश करता है और भावी सन्तानको निर्बल बनाता है तथा समाजमें दुराचार एवं दुर्बलताको प्रश्रय देता है। अतः प्रत्येक पुरुषको अपनी पत्नीके साथ और प्रत्येक स्त्रीको अपने पतिके साथ संयमित जीवन बिताना चाहिए।

४. चौथा यह है कि संचयवृत्तिको सीमित करना चाहिए, क्योंकि आवश्यकतासे अधिक संग्रह करनेसे मनुष्यकी तृष्णा बढ़ती है तथा समाजमें असन्तोष फैलता है। यदि वस्तुओंका अनुचित रीतिसे संग्रह न किया जाय और प्राप्तपर सन्तोष रखा जाय तो दूसरोंको जीवन-निर्वाहके साधनोंकी कमी नहीं पड़ सकती।

इस तरह अहिंसाको जीवनमें लानेके लिए सत्य, अचौर्य, ब्रह्मचर्य और परिग्रहपरिमाण इन चार नियमोंका पालन करना आवश्यक है। उनके बिना अहिंसा पल नहीं सकती—पूर्णरूपमें वह जीवनमें नहीं आ सकती। यही पाँच व्रत भगवान् महावीरका आचार-धर्म है।

आचार-धर्मका मूलाधार : अहिंसा

ऊपर देख चुके हैं कि इस आचार-धर्मका मूलाधार '**अहिंसा**' है, शेष चार व्रत तो उसी तरह उसके रक्षक हैं जिस तरह खेतोकी रक्षाके लिए बाढ़ (वारी) लगा दी जाती है। यह देखा जाता है कि गलत बात कहने, कटु बोलने, असंगत कहने और अधिक बोलनेसे न केवल हानि ही उठानी पड़ती है किन्तु कलुषता, अविश्वास और कलह भी उत्पन्न हो जाते हैं। जो वस्तु अपनी नहीं, उसे बिना मालिककी आज्ञासे ले लेनेपर वस्तुके स्वामीको दुःख और रोष होता है। परपुरुष या परस्त्री गमन भी अशान्ति तथा तापका कारण है। परिग्रहका आधिक्य तो स्पष्टतः संक्लेश और आपत्तियोंका जनक है। इस प्रकार असत्य, चोरी, अब्रह्म और परिग्रह ये चारों ही पापवृत्तियाँ हिंसाके बढ़ानेमें सहायक हैं। इसलिए इनके त्यागमें अहिंसाके ही पालनका लक्ष्य निहित है। अतएव अहिंसाको 'परम धर्म' कहा गया है।

द्रव्यहिंसा और भावहिंसा

अहिंसाके स्वरूपको समझनेके लिये हमें पहले हिंसाका स्वरूप समझ लेना आवश्यक है। भगवान् महावीरने हिंसाकी व्याख्या करते हुए बतलाया कि '**प्रमत्तयोगात् प्राणव्यपरोपणं हिंसा**' अर्थात् दुष्ट अभिप्रायसे प्राणीको चोट पहुँचाना हिंसा है। सामान्यतया हिंसा चार प्रकारकी है—संकल्पी, आरंभी, उद्योगी और विरोधी। इन चारों हिंसाओंमें '**चोट पहुँचाना**' समान है, पर संकल्पी (जानबूझकर की जानेवाली) हिंसामें दुष्ट अभिप्राय होनेसे उसका गृहस्थके लिए त्याग और शेष तीन हिंसाओंमें दुष्ट अभिप्राय न होनेसे उनका अत्याग बतलाया गया है। वास्तवमें उन तीन हिंसाओंमें केवल द्रव्यहिंसा होती है और संकल्पी हिंसामें द्रव्य हिंसा और भावहिंसा दोनों ही हिंसाएँ होती हैं। जैनधर्ममें बिना भावहिंसाके कोरी द्रव्य-हिंसाको पापबन्धका कारण नहीं माना गया है। गृहस्थ अपने और परिवारके भरण-पोषणके लिए आरम्भ तथा उद्योग करता है और कभी-कभी अपनी, अपने परिवार, अपने समाज और अपने राष्ट्रकी रक्षाके लिए आक्रान्तासे लड़ाई भी लड़ता है और उसमें हिंसा होती ही है। परन्तु आरम्भ, उद्योग और विरोधके करते समय उसका दुष्ट अभिप्राय न होनेसे वह अहिंसक है तथा उसकी ये हिंसाएँ क्षम्य हैं, क्योंकि उसका लक्ष्य केवल न्याययुक्त भरण-पोषण तथा रक्षाका होता है। अतएव जैनधर्मके अनुसार अपने द्वारा किसी प्राणीके मर जाने या दुखी होनेसे ही हिंसा नहीं होती। संसारमें सर्वत्र जीव पाये जाते हैं और वे

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अपने निमित्तसे मरते भी रहते हैं। फिर भी जैनधर्म इस '**प्राणिघात**' को हिंसा नहीं कहता। यथार्थमें '**हिंसारूप परिणाम**' ही हिंसा है। एक किसान प्रातःसे शाम तक खेतमें हल जोतता है और उसमें बीसियों जीवोंका घात होता है, पर उसे हिंसक नहीं कहा गया। किन्तु एक मछुआ नदीके किनारे सुबहसे सूर्यास्त तक जाल डाले बैठा रहता है और एक भी मछली उसके जालमें नहीं आती। फिर भी उसे हिंसक माना गया है। इसका कारण स्पष्ट है। किसानका हिंसाका भाव नहीं है—उसका भाव अनाज उपजाने का है और मछुआका भाव प्रतिसमय तीव्र हिंसाका रहता है। जैन विद्वान् आशाधरने निम्न श्लोकमें यही प्रदर्शित किया है :

विष्वग्जीव-चिते लोके क्व चरन् कोऽप्यमोक्ष्यत।
भावैकसाधनौ बन्ध-मोक्षौ चेन्नाभविष्यताम्॥

'यदि भावोंपर बन्ध और मोक्ष निर्भर न हों तो सारा संसार जीवराशिसे खचाखच भरा होनेसे कोई मुक्त नहीं हो सकता।'

जैनागममें स्पष्ट कहा गया है :—

मरदु व जियदु व जीवो अयदाचारस्स णिच्छिदा हिंसा।
पयदस्स णत्थि बंधो हिंसामेत्तेण समिदस्स॥

'जीव मरे या चाहे जिये, असावधानीसे काम करनेवाले व्यक्तिको नियमसे हिंसाका पाप लगता है। परन्तु सावधानीसे प्रवृत्ति करनेवालेको हिंसा होनेमात्रसे हिंसाका पाप नहीं लगता।'

जैनके पुराण युद्धोंसे भरे पड़े हैं और उन युद्धोंमें अच्छे अणुव्रतियोंने भाग लिया है। पद्मपुराणमें लड़ाईपर जाते हुए क्षत्रियोंके वर्णनमें एक सेनानीका चित्रण निम्न प्रकार किया है—

सम्यग्दर्शनसम्पन्नः शूरः कश्चिदणुव्रती।
पृष्ठतो वीक्ष्यते पत्न्या पुरस्त्रिदशकन्यया॥

'एक सम्यग्दृष्टि और अणुव्रती सिपाही जब युद्धमें जा रहा है, तो उसे पीछेसे उसकी पत्नी देख रही है और विचारती है कि मेरा पति कायर बनकर युद्धसे न लौटे—वहीं वीरगति प्राप्त करे और सामनेसे देवकन्या देखती है—यह वीर देवगति पाये और चाह रही है कि मैं उसे वरण करूँ।'

यह सिपाही सम्यग्दृष्टि भी है और अणुव्रती भी। फिर भी वह युद्धमें जा रहा है, जहाँ असंख्य मनुष्योंका घात होगा। इस सिपाहीका उद्देश्य मात्र आक्रान्तासे अपने देशकी रक्षा करना है। दूसरेके देशपर हमला कर उसे विजित करने या उसपर अधिकार जमाने जैसा दुष्ट अभिप्राय उसका नहीं है। अतः वह द्रव्य-हिंसा करता हुआ भी अहिंसा-अणुव्रती बना हुआ है। उसके अहिंसा-अणुव्रतमें कोई दूषण नहीं आता।

जैन धर्ममें एक '**समाधिमरण**' व्रतका वर्णन आता है, जो आयुके अन्तमें और कुछ परिस्थितियोंमें जीवन-भर पाले हुए आचार-धर्मकी रक्षाके लिए ग्रहण किया जाता है। इस व्रतमें द्रव्य-हिंसा तो होती है पर भाव-हिंसा नहीं होती; क्योंकि उक्त व्रत उसी स्थितिमें ग्रहण किया जाता है, जब जीवनके बचनेकी आशा नहीं रहती और आत्मधर्मके नष्ट होनेकी स्थिति उपस्थित हो जाती है। इस व्रतके धारकके परिणाम संक्लिष्ट न होकर विशुद्ध होते हैं। वह उसी प्रकार आत्मधर्म-रक्षाके लिए आत्मोत्सर्ग करता है जिस प्रकार एक बहादुर वीर सेनानी राष्ट्र-रक्षाके लिए हँसते-हँसते आत्मोत्सर्ग कर देता है और पीठ नहीं

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

फेरता। यही कारण है कि इस व्रतका धारक वीर सेनानीकी भाँति अहिंसक माना गया है। यदि कोई व्यक्ति इस व्रतका दुरुपयोग करता है तो किसी भी अच्छी बातका दुरुपयोग हो सकता है। बंगालमें **'अन्तक्रिया'** का बहुत दुरुपयोग होता था। अनेक लोग वृद्धा स्त्रीको गंगा किनारे ले जाते थे और उससे कहते थे—'हरि बोल।' अगर उसने 'हरि' बोल दिया तो उसे जीते ही गंगामें बहा देते थे। परन्तु वह 'हरि' नहीं बोलती थी, इससे उसे बार-बार पानीमें डुबा-डुबाकर निकालते थे और जब तक वह 'हरि' न बोले तब तक उसे इसी प्रकार परेशान करते थे, जिससे घबराकर वह 'हरि' बोल दिया करती थी और वे लोग उसे स्वर्ग पहुँचा देते थे। **'अन्तक्रिया'** का यह दुरुपयोग ही था। समाधिमरणव्रतका भी कोई दुरुपयोग कर सकता है। परन्तु दुरुपयोगके डरसे अच्छे कामका त्याग नहीं किया जाता। किन्तु यथासाध्य दुरुपयोगको रोकनेके लिए कुछ नियम बनाये जाते हैं। समाधिमरणव्रतके विषयमें भी जैनधर्ममें नियम बनाये गये हैं। अनशन कितना महत्त्वपूर्ण एवं आत्मशुद्धि और प्रायश्चित्तका साधन है। गाँधीजी उसका प्रयोग आत्मशुद्धिके लिए किया करते थे। किन्तु अपनी बात मनवाने के लिए आज उसका भी दुरुपयोग होने लगा है। लेकिन इस दुरुपयोगसे अनशनका न महत्त्व कम हो सकता है और न उसकी आवश्यकता समाप्त हो सकती है।

इस विवेचनसे हम द्रव्य-हिंसा और भाव-हिंसाके अन्तरको सहजमें समझ सकते हैं और भाव-हिंसाको ही हिंसा जान सकते हैं। लेकिन इसका यह मतलब नहीं है कि जैनधर्ममें द्रव्यहिंसाकी छूट दे दी गई है। यथा शक्य प्रयत्न उसको भी बचानेके लिए उपदेश दिया गया है और आचार-शुद्धिमें उसका बड़ा स्थान माना गया है। इस द्रव्यहिंसाके हो जानेपर व्रती (गृहस्थ और साधु दोनों) प्रतिक्रमण और प्रायश्चित्त करते हैं। छोटे-से-छोटे और बड़े-से-बड़े सभी जीवोंसे क्षमा-याचना की जाती है और प्रायश्चित्तमें स्वयं या गुरुसे कृतापराधके लिए दण्ड स्वीकार किया जाता है। जान पड़ता है कि जैनोंके इस प्रतिक्रमण और प्रायश्चित्तका पारसी धर्मपर भी प्रभाव पड़ा है। उनके यहाँ भी पश्चात्ताप करनेका रिवाज है। इस क्रियामें जो मंत्र बोले जाते हैं उनमेंसे कुछका भाव इस प्रकार है—'धातु उपधातुके साथ जो मैंने दुर्व्यवहार किया हो, उसका मैं पश्चात्ताप करता हूँ।' 'जमीनके साथ जो मैंने अपराध किया हो, उसका मैं पश्चात्ताप करता हूँ।' 'पानी अथवा पानीके अन्य भेदोंके साथ जो मैंने अपराध किया हो, उसका मैं पश्चात्ताप करता हूँ।' 'वृक्ष और वृक्षके अन्य भेदोंके साथ जो मैंने अपराध किया हो, उसका मैं पश्चात्ताप करता हूँ।' 'महताब, आफ़ताब, जलती अग्नि आदिके साथ जो मैंने अपराध किया हो, मैं उसका पश्चात्ताप करता हूँ।' पारसियोंका यह विवेचन जैन-धर्मके प्रतिक्रमणसे मिलता-जुलता है, जो पारसी धर्मपर जैन धर्मके प्रभावका स्पष्ट सूचक है। अतः भाव-हिंसाको छोड़े बिना जिस तरह कोई व्यक्ति अहिंसक नहीं हो सकता, उसी तरह द्रव्य-हिंसाको छोड़े बिना निर्दोष आचार-शुद्धि नहीं पल सकती। इसलिए दोनों हिंसाओंको बचानेके लिए सदा प्रयत्न करना चाहिए।

आचार-धर्मके आधार : गृहस्थ और साधु

इस तरह अहिंसा, सत्य, अचौर्य, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह ये पाँच व्रत हैं। इन व्रतोंको गृहस्थ और साधु दोनों पालते हैं। गृहस्थ इन्हें एक देशरूपसे और साधु पूर्णरूपसे पालन करते हैं। गृहस्थके ये व्रत अणुव्रत कहलाते हैं और साधुके महाव्रत। साधुका क्षेत्र विस्तृत होता है। उसकी सारी प्रवृत्तियाँ सर्वजन-हिताय और सर्वोदयके लिए होती हैं। वह ज्ञान, ध्यान और तपमें रत रहता हुआ वर्गसे, समाजसे और राष्ट्रसे बहुत ऊँचे उठ जाता है, उसकी दृष्टिमें ये सब संकीर्ण क्षेत्र हो जाते हैं। समाजसे वह कम लेकर और उसे अधिक देकर कृतार्थ होता है। लेकिन गृहस्थपर अनेक उत्तरदायित्व हैं। अपनी प्राणरक्षाके अलावा उसके कुटुम्बके प्रति, समाजके प्रति, धर्मके प्रति और राष्ट्रके प्रति भी कुछ कर्त्तव्य हैं। इन कर्त्तव्यों

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

को पालन करनेके लिए वह उक्त अहिंसा आदि व्रतोंको अणुव्रतके रूपमें ग्रहण करता है और इन स्वीकृत व्रतोंकी वृद्धिके लिए अन्य सात व्रतोंको भी धारण करता है, जो इस प्रकार है—

(१) अपने कार्य-क्षेत्रकी गमनागमनकी मर्यादा निश्चित कर लेना '**दिग्व्रत**' है। यह व्रत जीवन-भरके लिए ग्रहण किया जाता है। इस व्रतका प्रयोजन इच्छाओंकी सीमा बांधना है।

(२) दिग्व्रतकी मर्यादाके भीतर ही उसे कुछ काल और क्षेत्रके लिए सीमित कर लेना—आने-जानेके क्षेत्रको कम कर लेना **देशव्रत** है।

(३) तीसरा **अनर्थदण्डव्रत** है। इसमें व्यर्थके कार्यों और प्रवृत्तियोंका त्याग किया जाता है।

ये तीनों व्रत अणुव्रतोंके पोषक एवं वर्धक होनेसे **गुणव्रत** कहे जाते हैं।

(४) **सामायिक**में आत्म-विचार किया जाता है और खोटे विकल्पोंका त्याग होता है।

(५) **प्रोषधोपवास**में उपवास द्वारा आत्मशक्तिका विकास एवं सहनशीलताका अभ्यास किया जाता है।

(६) **भोगोपभोगपरिमाण**में दैनिक भोगों और उपभोगोंकी वस्तुओंका परिमाण किया जाता है। जो वस्तु एक बार ही भोगी जाती है वह भोग तथा जो बार-बार भोगनेमें आती है वह उपभोग है। जैसे भोजन, पान आदि एक बार भोगनेमें आनेसे भोग वस्तुएँ हैं और वस्त्र, वाहन आदि बार-बार भोगनेमें आनेसे उपभोग वस्तुएँ हैं। इन दोनों ही प्रकारकी वस्तुओंका प्रतिदिन नियम लेना भोगोपभोगपरिमाण व्रत है।

(७) **अतिथिसंविभाग**में सुपात्रोंको विद्या, औषधि, भोजन और सुरक्षाका दान दिया जाता है, जिससे व्यक्तिका उदारतागुण प्रकट होता है। तथा इनके अनुपालनसे साधु बननेकी शिक्षा (दिशा और प्रेरणा) मिलती है।

इस प्रकार प्रत्येक व्यक्ति, चाहे वह सामाजिक जीवन-क्षेत्रमें हो या राष्ट्रीय, इन १२ व्रतोंका सरलतासे पालन कर सकता है और अपने जीवनको सुखी एवं शान्तिपूर्ण बना सकता है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org